शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

फरवरी : १९६२ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, माघ, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : १०

आत्मकल्याण का निश्चय

''ज्ञानी के मार्ग के आशय का उपदेश देने वाले वाक्य''—में आत्मकल्याण की तीव्र प्रेरणा देते हुए श्रीमद् राजचंद्रजी लिखते हैं कि—

''जीव को मुख्य में मुख्य तथा अवश्य में अवश्य ऐसा निश्चय रखना चाहिये कि—मुझे जो कुछ करना है, वही करना है जो आत्मा को कल्याणरूप हो।'' कितना सुंदर विचार है।

(—वर्ष २८वाँ)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२०१]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

ग्राहकगण को सूचना

आत्मधर्म के जिन ग्राहकों को अपना पता बदलवाना हो अथवा पते की गलती से अंक न मिलता हो, वे फिर से अपना सही पता मय ग्राहक नम्बर के सीधा कमल प्रिन्टर्स पो० मदनगंज, (किशनगढ़) को लिखें। —प्रकाशक

नया प्रकाशन

मूल में भूल (तीसरी आवृत्ति)

भैया भगवतीदासजी और कविवर बनारसीदासजी कृत निमित्त उपादान के दोहों पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रवचन जिसमें उपादानरूप निज शक्ति के अनुसार शुद्धरूप या अशुद्धरूप सभी परिणमन अपनी अपनी स्वतंत्रता से होते हैं, अन्य तो निमित्तमात्र-व्यवहारमात्र कारण है, ऐसा न मानकर निमित्त के अनुसार कार्य मानना मूल में भूल है—यह स्पष्ट किया है।

[पृष्ठ संख्या १४०, मूल्य ५५ नये पैसे]

खास सूचना

सत्साहित्य योजना के अनुसंधान में जो पत्र आते हैं, उसमें पता पूरा न लिखने से देरी होती है। जो भी संस्थायें पत्र लिखें वे अपना नाम, गाँव, पता, जिला, रेलवेस्टेशन ठीक से अंग्रेजी में ही लिखें, या खूब अच्छी तरह साफ अक्षरों में लिखें।

इस योजनानुसार, सिर्फ संस्थाओं पाठशाला और मंदिरजी इत्यादि को ही भिजवाने के हैं। व्यक्तिगत नहीं।

व्यवस्थापक-पुस्तक प्रकाशन विभाग
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

फरवरी : १९६२ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, माघ, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : १०

पद्मनंदि पंचविंशतिका

दान अधिकार

[जामनगर में परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

(माघ शुक्ला १, तारीख १७-१-६१)

आचार्यदेव जगत के जीवों को लोभरूपी गहरे कुएँ की खोट में से निकालने के लिये तृष्णा घटाने का उपदेश देते हैं।

दान में पुण्यभाव है और वह धर्मी जीव को भी होता है।

यहाँ धर्मी जीव की मुख्यता से दान की बात कहते हैं। यह आत्मा शुद्ध ज्ञानमूर्ति है। शरीर, मन, वाणी से पार है। जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे कृत्रिम, अनित्य उपाधि हैं; बाह्य संयोगों को उपाधि कहना, सो व्यवहार कथन है। सचमुच संयोग उपाधि नहीं है, किंतु निरुपाधिक ज्ञाता दृष्टा का भान भूलकर जितनी शुभाशुभवृत्ति प्रगट करे, वह चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध उपाधिभाव है—उससे बंधन है। धर्म और पुण्य दोनों भिन्न-भिन्न हैं। पुण्य तो बंधन का कारण है; इसलिये जो प्रथम श्रद्धा में पुण्य-पाप दोनों को उपाधि जानकर दूर करना चाहे, वह धर्मी है।

राग दूर हो जाने के पश्चात् श्रद्धा होती है—ऐसा नहीं है। राग होने पर भी उनसे भेदज्ञान द्वारा स्वोन्मुख हो तो आत्मा का अनुभव हो सकता है। जिसप्रकार तृषावंत प्राणी तृषा शांत करने के लिये पानी में से काई हटाकर स्वच्छजल पीता है; उसीप्रकार भेदज्ञान द्वारा पुण्य-पापरूपी काई को हटा देने से निरुपाधिक स्वरूप का अनुभव हो सकता है। पुण्य करते-करते पवित्रता प्राप्त होगी -ऐसा कहनेवाले धर्म के नाम से अधर्म का पोषण करते हैं। धर्म अर्थात् आत्मा में स्वाश्रय से

होनेवाली निर्मलदशा अथवा सुख; उसे साधनेवाले साधक कहलाते हैं; उन्हें धर्म की मूर्ति कहा जाता है।

जिनके हृदय में धर्म की रुचि है, ऐसे स्वर्ग के देव भी भावना भाते हैं कि—मनुष्य भव में पहुँचकर हम शीघ्र ही धर्म की साधना करें और वीतरागता पूर्वक धर्म के प्रति बहुमान लाकर दान देने की भावना भी भाते हैं :

विकार से पार ज्ञायकपने की दृष्टि जिसे हुई है, वह धर्मदृष्टिवंत कहा जाता है। उसे दान, पूजा, भक्ति का शुभभाव आता है; धर्मात्मा-संतों को अच्छी तरह पहिचानता है तथा दान देता है और उसकी अनुमोदना भी करता है। तीनों काल साधक जीव अर्थात् वीतरागता की साधना करनेवाले जीव बनें रहें और मैं भी शीघ्र ही पूर्ण परमात्मदशा प्राप्त करूँ—ऐसी भावना धर्मी जीव को होती है।

सांसारिक रुचि के कारण अनंतानंतकाल परिभ्रमण किया; उसमें देहादि से भिन्न असंग ज्ञानमात्र चैतन्यरूप मैं हूँ, ऐसी दृष्टि एक समयमात्र भी नहीं की। पुण्य-पाप के असंख्य भेद हैं; उनमें से पुण्य के शुभभाव भी अनंतबार किये किंतु सर्व विकार से पार मैं ज्ञानानन्द मूर्ति हूँ—ऐसे आत्मा का भान नहीं किया।

सर्वज्ञ वीतराग देवाधिदेव परमात्मा हुए, उन्हें तीन काल-तीन लोकवर्ती सर्व पदार्थों का ज्ञान हुआ। उन्होंने कहा है कि—अनादि संसार की रुचि के कारण तूने अपने को नहीं पहिचाना। जिसप्रकार धुएँ की आड़ में अग्नि दिखाई नहीं देती, उसीप्रकार पुण्य-पाप और पराश्रय की आड़ में चैतन्यज्योति दृष्टिगोचर नहीं होती। इसप्रकार व्यवहार की रुचि-संसार की रुचि के कारण अविकारी ज्ञानानंद मूर्ति का साक्षात्कार तूने कभी नहीं किया; उसमें तेरा दोष है—किसी कर्म, क्षेत्र या संयोग का दोष नहीं है।

परपदार्थ के संयोग-वियोग करना जीव के अधिकार की बात नहीं है। जीव स्वयं में शुभ-अशुभभाव करे, इच्छा करे, सम्यक्ज्ञान करे, मिथ्याज्ञान करे, किंतु पर में कुछ नहीं कर सकता।

आज प्रातःकाल एक ग्रेज्युएट कुमारी-बहिन ने आजीवन ब्रह्मचर्य ग्रहण किया। किसी को प्रश्न हो कि यह क्या? तो उसमें शरीर, वाणी, मन से प्रतिज्ञा-पालन के भाव को शुभभाव कहा जाता है; उसे व्रत नहीं किंतु प्रतिज्ञा कहते हैं। सम्यग्दर्शन के उपरांत निश्चय ब्रह्मचर्यादि व्रत के बिना व्यवहार व्रत नहीं हो सकता।

पुण्य-पाप (राग) रहित अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वरूप में, निर्मल श्रद्धा-ज्ञान में एकाग्रतारूप से चरने का नाम परमार्थ से (निश्चय से) व्रत और ब्रह्मचर्य है। 'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञानानंदमय अपना आत्मा, उसमें शुद्धदृष्टि-ज्ञान-लीनता द्वारा स्थिरता हो और राग टूटता जाये, उसे सम्यग्दर्शनपूर्वक व्रत कहा जाता है। इसके बिना मात्र पुरुष को स्त्री के और स्त्री को पुरुष के त्यागरूप प्रतिज्ञा मात्र से ज्ञानानंदस्वरूप में एकाकाररूप व्रत नहीं कहा जाता। हाँ, साधारण नैतिक जीवन की भूमिका में भी कुशील न हो; लोकनिंद्य अनाचार न हो, व्यवहार में विवेकी जीव स्व-पर स्त्री-पुरुष में विषय का त्याग करे, उस भाव को शुभभावरूपी ब्रह्मचर्य कहा जाता है। उसे प्रतिज्ञा कहते हैं; व्रत भिन्न वस्तु है। निश्चय से व्रत तो चारित्र है; वह तो ज्ञानानंदस्वरूप में श्रद्धा और स्थिरता द्वारा जो एकाकार हो जाये, उसी को होता है।

चारित्र के कारणरूप निश्चय सम्यग्दर्शन प्रथम होना चाहिये; जहाँ वह न हो, वहाँ चारित्र, व्रत, तप तीन काल में नहीं हो सकते। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व धर्म-जिज्ञासु को सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की प्रतीति एवं पूजा-भक्ति-दानादि के भाव आते हैं, किंतु वह शुभभाव है; उसकी खतौनी पुण्य बंधन में होना चाहिये। पुण्य करते-करते धर्म हो जायेगा—ऐसा माने तो मिथ्यात्व की पुष्टि होती है और धर्म का स्वरूप उससे नहीं समझा जा सकता।

प्रथम तो तत्त्वज्ञान द्वारा स्व-पर का यथावत् स्वरूप समझना चाहिये। 'अनुभव-प्रकाश' पुस्तक में आता है कि—यह नोकर्म अर्थात् शरीर के भीतर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूपी कोट है; उस कोट के भीतर पुण्य-पाप के विकल्पों का कोट है; उससे भिन्न अंतर में जागृत ज्योति चैतन्यचमत्कार, प्रभु, सच्चिदानंद आत्मा स्वयं शाश्वत विराजमान है। वह रजकण में, शरीर की क्रिया में ढूँढने से प्राप्त नहीं होगा; पुण्य-पाप विकार की आड़ में नहीं मिलेगा; बाह्य में किसी तीर्थक्षेत्र पर, पहाड़ पर नहीं मिलेगा। साक्षात् अरिहंत परमात्मा के निकट धर्म सभा में जाये तो वे भी कुछ नहीं दे सकते।

बाह्य की तथा विकार की अपेक्षा रहित मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतीति-ज्ञान-अनुभव अंतर में करे तो उस प्रारम्भिक धर्मी को अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। ऐसा भान हुए बिना कोई धर्म के नाम से व्रत, तप, नियम ले तो वह धर्म के लिये एक रहित शून्य के समान है, क्योंकि वह शुभभाव है।

पुण्यभाव का निषेध नहीं है; भूमिकानुसार वे आते ही हैं, वह आस्रव है-बंध का कारण है। पूजा, प्रभावना के भाव आयें, उसे व्रत नहीं कहा जाता। जहाँ पहुँचना हो, उससे विपरीत दिशा में

दौड़े तो निश्चित स्थान पर नहीं पहुँचेगा; उसीप्रकार पुण्य की क्रिया करे और उसे धर्म माने तो उसे धर्म का अंश भी नहीं होगा।

पाप से बचने—अशुभ में न जाने के लिये पुण्यभाव होते हैं, किंतु सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप तीन काल में नहीं होते। सम्यग्दर्शन-सत्यदर्शन-अंतर्दृष्टि के ध्येय में नित्य ज्ञानानंदस्वरूप ध्रुव आत्मा विराजमान है; उसकी प्रतीति करके जिसने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लिया है, उसे धर्मी कहते हैं। ऐसा जीव भगवान के मार्ग में है। धर्म को साधनेवाले साधक धर्मात्मा कौन हैं, धर्म का साधन क्या है, उसकी सम्यग्दृष्टि को, पहचान और उसका विवेक होता है।

धर्मात्मा साधक संत को आहारदान दूँ—ऐसा भाव महान इंद्रादि देवों को भी आता है। पुण्य से अनेक प्रकार की संपदा प्राप्त होती है, उसकी महत्ता नहीं है; किंतु देवों में व्रत-संयम नहीं है, इसलिये वे मनुष्यभव प्राप्त करके संयमी होने की भावना भाते हैं।

देवगति में व्रत नहीं हो, जिसप्रकार नदी में दोनों किनारों से लगकर प्रवाह चलता है, तो उसमें बीज नहीं बोया जा सकता; उसीप्रकार पुण्य के फल में स्वर्ग का भव मिला, वहाँ स्थिरता, आत्मशांति, लीनतारूपी व्रत नहीं उगते। सम्यग्दृष्टि देव जानते हैं कि जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द की डकारें आये, वह यहाँ नहीं है; इसलिये वे मनुष्यभव प्राप्त करके श्रावक और मुनिपद की भावना भाते हैं; उसी में यह भावना भी होती है कि हम कब मनुष्य भव प्राप्त करके योग्य धर्मात्मा पात्र को दान देंगे! आचार्य भगवान के कहने का तात्पर्य यह है कि श्रावकों को सुपात्र दान की ओर अवश्य लक्ष देना चाहिये।

यथार्थ प्रतीति सहित धर्म प्रभावना तथा धर्मात्मा के निमित्त से दान का योग प्राप्त होना अनंत काल में दुर्लभ है—ऐसा कहकर निमित्त-नैमित्तिक संबंध समझाते हैं। इस संसार में परमहित तो इस आत्मा की पूर्ण निर्मल दशा है; उस मोक्षदशा का कारण निश्चयरत्नत्रय है, (रत्नत्रय अर्थात् शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग); उसका निमित्तकारण श्रावकों द्वारा दिया जानेवाला आहार है; इसलिये जिसने निर्ग्रंथमुनि को भक्ति भाव से आहारदान दिया, उसने मोक्ष दिया है—ऐसा उपचार से कहा जाता है।

अब, 'यह' संसार कहने से यह अर्थात् विद्यमान संसार तत्त्व है; वह जीव में होनेवाली अशुद्धदशा है; वह कोई बिलकुल असत्य भ्रांति नहीं है। रस्सी में सर्प की भ्रांति हो, वहाँ भले ही वह रस्सी सर्प नहीं है, किंतु अन्यत्र सर्प है, उसका आरोप होता है। जिसका किंचित् अस्त्वि न हो,

उसका आरोप नहीं होता। आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप है; उसकी प्रगट दशा में विकार है और उसका फल दु:ख है, उसे संसार कहा जाता है।

त्रिकाली चैतन्यस्वभाव शक्तिरूप से नित्य शुद्ध होने पर भी भूल के कारण उसकी अवस्था में अज्ञानरूप विकार है अवश्य, किंतु वह और उतना मैं हूँ, रागादि मेरा कार्य है—ऐसा मानना, सो भ्रांति है, किंतु विकार को न माने और कर्मादि संयोगों के कारण दोष माने, तो विकार को टालने का अवसर नहीं रहता।

संसार कहाँ रहता है, उसकी अनेक लोगों को खबर ही नहीं है। पैसा, मकान, स्त्री तथा शरीर संसार नहीं है किंतु उसकी ममता संसार है। यदि शरीरादि का संयोग ही संसार हो तो उसके छूटने पर मोक्ष हो जाना चाहिये!

जामनगर शहर में श्मशान की दीवारों पर गर्भ, जन्म से लेकर मृत्यु तक के चित्र हैं; उनसे पता चलता है कि देह विनाशी और आत्मा अविनाशी है। देह तो जड़ रजकणों से बनती है और बाल, युवा, वृद्ध होकर बिखर जाती है। उसमें मैं बालक, युवक या वृद्ध हुआ—ऐसा मानना, वह राग-द्वेष-मोहदशा है तथा वही संसार है। ऐसा जानकर वर्तमान क्षणिक दशा के प्रति ममत्व नहीं करना चाहिये।

जिनप्रतिमा (परमात्मा की निर्दोष मूर्तिरूप से स्थापना) इसलिये है कि—जिन्हें वीतरागपरमात्मा के स्वरूप का निश्चय-प्रेम और आत्मा की रुचि है, उन्हें उसका स्मरण तथा बहुमान करने में सहायक हो। जिन्हें पूर्व पुण्य के उदय से सम्पदा प्राप्त हुई है, वे रत्नों की जिनप्रतिमाएँ भी बनवाते हैं। मुडबिद्री (दक्षिण भारत) में विभिन्न प्रकार के रत्नों (पन्ना, नीलम, मोती आदि) की प्रतिमाएँ हैं; परंतु इस जीव का धर्म उनमें नहीं है—उनसे प्राप्त नहीं होता।

अंतर में ज्ञान द्वारा प्रतीति करे कि आत्मा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मूर्ति है। उसी से मोक्ष और मोक्ष का उपाय प्राप्त होता है। अंतरंग में शक्तिरूप त्रिकाली शुद्ध आत्मा मैं हूँ, उसका ज्ञान करके उसमें एकता का अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन रत्न है; उसका ज्ञान करना, वह सम्यग्ज्ञानरूपी रत्न है और उसमें एकाग्रता द्वारा सम्यक् लीनता (आनन्द की लहरें उछालना) सो सम्यक्चारित्र रत्न है। तीनों काल यही मोक्ष के कारणरूप रत्नत्रय है, तथा वही उत्तम रत्न है; वही शरण है।

धीरेन्द्र नामक एक विद्यार्थी तालाब में डूब गया और चौबीस घंटे बाद उसका शव मिला।

वहाँ शरीर की दशा तो जैसी होनी थी, वैसी होती है। उसे धर्म का प्रेम था। मैं नित्य चिदानंद प्रभु हूँ, मुझे यह शरीर शरणभूत नहीं है—ऐसी जागृति तथा समाधान की भावना उसे थी। औषधियों की अलमारी भर रखे और माने कि अमुक रोग होगा तो अमुक उपाय करेंगे, यह औषधि काम आयेगी—यह सब भ्रमणा है; क्योंकि वह भी शरणदाता नहीं है; यह सम्यक्रत्नत्रयरूपी आत्मा ही शरणभूत है।

यह बात सूक्ष्म है। जिसप्रकार छोटे-छोटे मोती पकड़ने में बड़ी साणसी काम नहीं आती; उसीप्रकार अतीन्द्रिय ज्ञानमूर्ति आत्मा को समझने में पुण्य-पाप और शरीर के ओर की स्थूल दृष्टि काम नहीं आती। शरीर तो वारदान है—स्थूल है; चैतन्य सूक्ष्म है, उसे समझने के लिये सूक्ष्म बुद्धि होना चाहिये।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है कि—नित्य सूक्ष्म बोध का अभिलाषी जीव धर्म प्राप्त करने को पात्र है; स्थूल बुद्धि उसमें नहीं चल सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा सूक्ष्म विषय समझकर क्या करना है?—राग-द्वेष को मन्द करो;—किंतु यह मान्यता मिथ्या है। यदि वृक्ष को सुखाने के लिये कोई ऊपर से उसके पत्ते तोड़ दे तो उससे वृक्ष सूख नहीं सकता; वह फिर पनप उठेगा; किंतु जड़-मूल से उखाड़ दे तो वह सूख जायेगा। उसीप्रकार संसार भ्रमण का मूल मिथ्या मान्यता है; उसे महापाप जानकर टालने का उपाय न करे और बाह्य क्रिया, व्रत-पूजा-भक्ति आदि के शुभभाव करने में लग जाये तो उससे कहीं संसार नहीं घटेगा। जैसे अंधेरे का नाश करना नहीं पड़ता किंतु प्रकाश करते ही वह नाश हो जाता है, ऐसा सच्चा ज्ञान प्रगट करते ही मिथ्यात्व-अज्ञान का नाश होता है, बाद में आत्मानुभव की दशा बढ़ने पर क्रमशः राग हटते हैं।

जिसने आत्मा की निर्मल श्रद्धा-ज्ञान तथा अनुभवदशा प्रगट नहीं की, किंतु मात्र कषाय क्षीण करके पुण्य बाँधता है, उसे मिथ्यात्व होने के कारण अल्पकाल में पाप बढ़ जायेगा और पुण्य की स्थिति तोड़कर वह हलकी गति में पहुँचेगा।

परंतु जिसने एकबार स्वतंत्र तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्रगट किया (स्वतंत्र दृष्टि प्रगट की), वह जीव मोक्ष लेकर ही रहेगा। उसमें उसे अधिक काल नहीं लगेगा। धर्मात्मा जीव मोक्षमार्ग का स्वरूप जानता है और उसकी साधना करनेवाले मुनिवरों को आहारदान देने की भावना भाता है, उसमें वीतराग धर्म तथा मोक्षमार्ग को धारण करनेवाले धर्मात्मा के प्रति पहचान-प्रेम-आदर भाव

होता है, इसलिये मुनि को आहारदान देनेवाले ने मोक्षमार्ग को बना रखा है—ऐसा निमित्त से परम्परा का ज्ञान कराया है। मुनि धर्मात्मा हैं; उन्हें संयम में शरीर निमित्त है; शरीर को आहार निमित्त है; और आहारदान देने में श्रावक का निमित्त है—इस अपेक्षा से कहा जाता है कि—श्रावकों ने मोक्षमार्ग बना रखा है। इन सबको निमित्त तब कहा जाता है, जब सामने निश्चय उपादान में धर्मपना हो; और तभी धर्म की पुष्टिवाले को संयम का व्यवहार साधन कहा जाता है। दान के अन्य प्रकारों की अपेक्षा उत्तमपात्र को आहारदान देने में राग की विशेष मंदता है।

धर्मी जीव को पंच परमेष्ठी के प्रति भक्ति आये बिना नहीं रहती। आचार्यदेव भक्ति के अधिकार में अलंकार से उपमा देते हुए कहते हैं कि—तीर्थंकर परमात्मा हुए, उनकी प्रतीति सहित चंद्रलोक में किन्नरियाँ भी सुंदर राग-रागनियों में उनके गुणगान गाती हैं;—ऐसा स्मरण करके चंद्रमा के नीचे जो हिरण का चिह्न है, उसे उद्देश कर कहते हैं कि—हे प्रभु! यह हिरण मृत्युलोक से उड़कर यहाँ आपकी भक्ति के गीत सुन रहा है—ऐसा मैं देखता हूँ। और भक्त कहते हैं कि:—

चलते-फिरते प्रगट हरि देखूँ रे,
अपना जीवन सफल तब लेखूँ रे;
मुक्तानंद का नाथ बिहारी रे,
शुद्ध जीवन दोरी हमारी रे;

मिथ्यात्वादि पापों के समूह को आत्मा की निर्मलता द्वारा हरे, उसे हरि कहते हैं—ऐसी अंतर्मुख दृष्टि रखकर जहाँ देखो वहाँ आत्मा को ही दृष्टि में रखता है और इसप्रकार वीतरागता के प्रति भक्ति उछलती है; वह भी एक प्रकार का दान है।

गृहस्थदशा में जिसे प्रतीतिसहित भक्ति है, वह भी गाता है कि—'हुं तो हालुं चालुं ने प्रभु सांभरे रे, मारुं चालवुं ते अटकी जाय प्रभु मने सांभरे रे!' (मुझे चलते-फिरते हर समय भगवान की याद आती है; जब मुझे भगवान की याद आती है, तब मेरा चलना अटक जाता है।) इसप्रकार दिन-रात निश्चय के भान सहित भक्ति का भाव होता है।

पति बहुत दिनों से परदेश में हो तो पत्नी उसे पत्र लिखती है कि—शरीर यहाँ पड़ा है किंतु मन दिन-रात तुम्हारे पास रहता है। प्रीति के कारण ही वह ऐसा लिखती है; उसीप्रकार धर्मी जीव को धर्मात्मा के प्रति, वीतरागी देव-गुरु और शास्त्र के प्रति; जिनप्रतिमा; जिनमंदिर तथा पंच

परमेष्ठी के प्रति विशेष प्रेम होता है और इसी कारण उसकी भक्ति उछलती है कि—प्रभो! आप इसकाल में साक्षात् नहीं हैं; हम आपके विरह में दु:खी हैं; इसलिये याद करके कहते हैं कि:—

'भरत क्षेत्र मानवपणो जी ने प्रभु लाध्यो दूषमकाल,
चौद पूरवधर विरहथी दुलहो साधन चालो,
चंद्रानन जिन सांभलजो अरदास।'

—ऐसे अनेक प्रकार से त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा की भक्ति करते हैं।

सम्यग्दर्शन, आत्मा की निश्चयभक्ति है, और ऐसे भक्त जीवों में जिनेश्वरदेव की भक्ति-स्मरण, पूजा, प्रभावना तथा दानादि का उल्लास होता है, तथा वे पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हैं। जिसप्रकार घर में चार-छह बच्चे हों और सोते समय कोई एक न आया हो तो उसे याद करते हैं, और जब तक वह न आये, तब तक उसके वियोग की चिंता लगी है; उसीप्रकार धर्मात्मा को परमात्मा के प्रति, संतों के प्रति अपार भक्ति है; इसलिये देवाधिदेव तीर्थंकर प्रभु के विरह में धर्मी जीव को पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव आदि का भक्तिभाव उल्लसित होता है, उनका विरह सालता है;—ऐसा जो नहीं मानता, उसे धर्म की भूमिका ही मालूम नहीं है।

समयसार

कर्ता-कर्म अधिकार

[जामनगर में पूज्य सद्गुरुदेव का प्रवचन]

(तारीख २०-१-६१)

अनंतकाल से अज्ञानता के कारण जीव ने यह नहीं जान पाया कि 'कर्ताकर्म' क्या है। इस शरीर तथा इंद्रियों संबंधी ज्ञान जितना ही मैं हूँ—ऐसी मान्यता के कारण, मैं अतीन्द्रिय-अमूर्तिक केवलज्ञानस्वभावी नित्य चैतन्यरूप हूँ—ऐसा स्वानुभव द्वारा अपने को नहीं जानता। यह शरीर ही मैं हूँ, पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वही मैं हूँ—ऐसी मान्यता के कारण (अज्ञान के कारण) उसमें अपना कर्ताकर्म (-कार्य) मानता है।

सर्वज्ञ परमात्मा ने तीनकाल-तीनलोकवर्ती सर्व पदार्थों का सम्पूर्ण स्वरूप प्रत्यक्ष जाना है और वाणी द्वारा कहा है कि :—शरीर, मन, वाणी, सदैव जड़ पदार्थ हैं, उनमें ज्ञान-सुख-दुःख नहीं है किंतु उनमें नित्य जड़रूप से स्थिर रहकर परिवर्तित होने की शक्ति है; इसलिये उनका जो वर्तमान कर्म (कार्य) होता है, वह उन्हीं से होता है, तुझसे नहीं है; किसी दूसरे के आधार से उनका कर्ता-कर्म नहीं है। इसीप्रकार प्रत्येक पदार्थ की स्वतंत्रता है; ऐसा जानकर स्वोन्मुख होने से आत्मा का सच्चा ज्ञान होता है।—स्वतंत्रता का अनुभव अज्ञानी ने कभी एक क्षणमात्र नहीं किया; इसलिये सर्वप्रथम ऐसा निर्णय करना चाहिये कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है।

सर्वज्ञ परमात्मा ने तीनकालवर्ती सभी पदार्थ का संपूर्ण स्वरूप प्रत्यक्ष जाना है और वाणी द्वारा कहा है:—कि शरीर, मन, वाणी हमेशा जड़ पदार्थ है, उनमें ज्ञान-सुख-दुःख नहीं है किंतु उन सभी में नित्य जड़रूप से स्थायी रहकर परिवर्तन करने की शक्ति है; इसलिये उसका जो वर्तमान कर्म (कार्य) होते हैं वह कार्य उनसे होते हैं, अन्य किसी से नहीं, अर्थात् किसी के आधार से या किसी की प्रेरणा से उसका कर्ता-कर्म नहीं है। इस ही प्रकार-प्रत्येक पदार्थ का त्रिकाल स्वतंत्रपन है, ऐसा जानकर अतीन्द्रियज्ञानानंदमय अपने स्वरूप की ओर झुकने से आत्मा का सच्चा ज्ञान होता है, ऐसा स्वतंत्रपना कभी भी एक सेकंडमात्र भी अज्ञानी ने जाना नहीं; इसलिये सर्वप्रथम प्रत्येक पदार्थ सदा स्वतंत्र ही है, ऐसा अच्छी तरह निर्णय करना चाहिये।

यह उँगली हिलाना आत्मा का कार्य नहीं है। आत्मा में ऐसा सामर्थ्य तीनकाल में नहीं है कि वह परवस्तु की क्रिया करे। प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय नवीन-नवीन अवस्था होती है और वस्तुरूप से वह नित्य स्थायी रहता है, ऐसा नियम है। वस्तु की अवस्था ही उसकी व्यवस्था है। यदि वस्तु एकसमय भी पर की अवस्था करे तो कर्ता होनेवाले ने उस समय अपना क्या किया?—यदि कोई दूसरा उसका कार्य करे तो दो द्रव्यों की एकता होती है। प्रत्येक पदार्थ 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' लक्षणवाला है। ऐसा होने के कारण कोई द्रव्य किसी भी समय अपना कर्ता-कर्म (कार्य) छोड़कर दूसरे का कार्य कर सके—ऐसा नहीं होता। यह सूक्ष्म बात है; इसे जाने बिना कर्ता-कर्म का अज्ञान दूर नहीं होता। कहा है कि—'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।'

आत्मा अर्थात् जीव या तो भूल करता है या सच्चा ज्ञान करता है; किंतु पर, पर का किसी प्रकार कुछ नहीं कर सकता। अज्ञान के कारण भले ही माने, किंतु अज्ञानभाव से परपदार्थ का कुछ करे अर्थात् आत्मा उसके कार्य का कर्ता हो, यह तो आकाश-कुसुम तोड़ने के समान है—जो कि त्रिकाल में नहीं हो सकता।

अपने को शरीररूप भले ही माने, किंतु शरीर की क्रिया, खाने-पीने की क्रिया, बोलना, चलना, आँखों की पलक हिलाना—यह सब परमाणु द्रव्य की क्रियायें होने से आत्मा तीनकाल-तीनलोक में उन्हें नहीं कर सकता। मैं करता हूँ—ऐसा मिथ्या अहंकार करता है, राग-द्वेष-मोह करता है; किंतु सत्य क्या है—उसका क्षणमात्र भी निर्णय करके अंतरस्वरूप का अनुभव नहीं करता।

पर में जो कार्य होता है, वह मेरे कारण होता है; इसप्रकार अज्ञानी पर में एकताबुद्धि ले बैठा है। मंदिर, मूर्ति आदि के प्रति भक्तिवान को पूजा-भक्ति आदि का जो शुभराग होता है, वह उसके अपने काल में अपने ही कारण होता है; यदि पर के कारण होता हो तो सबको होना चाहिये और एकसमान ही होना चाहिये।

सौधर्म आदि इन्द्र सम्यग्दृष्टि हैं, भक्तिवान हैं। जब तीर्थंकर भगवान का जन्म होता है, तब अपने आप ही इन्द्रासन डोलने लगता है। इन्द्र ऐरावतहाथी पर आता है और भक्ति के उल्लास में भगवान को मेरुपर्वत पर ले जाकर १००८ कलशों से अभिषेक करके जन्म महोत्सव मनाता है।—यह सब क्या है?—वह तो अपने में शुभभाव करता है। पुद्गलपरावर्तन के नियमानुसार

पुद्गल की जो क्रिया जैसी होना है, वह वैसी होती है; किंतु शुभभाव है। इसलिये जड़ की क्रिया नहीं होती। भक्तिवान को ऐसा राग आता है; किंतु ज्ञानी, राग का स्वामी नहीं है; वह तो सर्व प्रकार के राग का व्यवहार से ज्ञाता है।

इस सत्य को जब तक न समझें, तब तक लोगों को ऐसा प्रश्न उठता है कि हम करें क्या? उन्हें दो द्रव्यों की भिन्नता भासित नहीं हुई है, इसलिये संयोग की ओर से देखते हैं; जैसी वस्तुस्थिति है, वैसी नहीं देख सकते। पंडित बनारसीदासजी कहते हैं कि:—

करे करम सोही करतारा, जो जाणे सो जाननहारा;
करता सो जाणे नहि कोई, जाणे सो करता नहि होई।

जीव-अजीव परपदार्थों की जो क्रिया है, वह उनके अपने से होती है—ऐसा न मानकर, मैं उनका कर्ता हूँ; इसप्रकार मिथ्यादृष्टि अभिमान कर रहा है; इसलिये उसे ज्ञातास्वरूप की प्रतीति नहीं हो पाती। **ज्ञातास्वभावी आत्मा को जानने के कारण ज्ञानी को ऐसी प्रतीति होती है कि मुझमें स्वर्ग को जानने की शक्ति है किंतु पर का कुछ भी करने की शक्ति मुझमें नहीं है।**

तीर्थंकर तीन ज्ञान लेकर माता के गर्भ में आते हैं। जन्म काल में इन्द्रों के आसन डोल उठते हैं। वे पुण्य में पूर्ण हैं और पवित्रता में पूर्ण होना है। शरीर बाल्यावस्था में भी इतना शक्तिशाली होता है कि इन्द्रों द्वारा हजारों कलश ढोले जाने पर भी किंचित् प्रभाव नहीं होता। इन्द्र पैरों में घुँघरू बाँधकर नृत्य द्वारा भक्ति करते हैं। श्री पद्मनंदि आचार्य भक्तिस्तोत्र में कहते हैं कि—हे जिनेन्द्र! जब आपका जन्म हुआ, तब मेरुपर्वत के ऊपर आपके अभिषेक में जो जल धाराएँ प्रवाहित हुईं, उनके पवित्र जल से मेरुपर्वत तीर्थ बन गया और इसलिये यह सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र तथा तारामण्डल उसकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

भक्तगण भक्ति के उल्लास में उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा वीतरागता की महिमा गाते हैं कि—हे नाथ! इस आकाश में यह जो बादलों के खंड विचरते हैं, उनसे मैं ऐसा समझता हूँ कि आपके जन्म कल्याणक के समय इन्द्रों ने हाथ फैलाकर जो ताण्डव नृत्य किया, उससे अखंड बादल खंड-खंड हो गये। इसका भाव यह है कि—आत्मा के साथ कर्मों को एकमेक मानता था; जब भान हुआ कि ऐसा नहीं है, तब उनके खंड-खंड हो गये। कर्म बंधन के टुकड़े होने से हमारे संसार का बंधन टूट गया है। देखो, यह भक्ति! इसकी भाषा अलग है और भाव अलग है।

राग के कारण राग, ज्ञान के कारण ज्ञान और जड़ के कारण शरीर की क्रिया स्वतंत्र ही है। पर के कार्य पर से होते हैं। मुझसे उनमें और उनसे मुझमें कुछ होता है—ऐसा ज्ञानी नहीं मानता।

श्री 'तत्त्वज्ञान-तरंगिणी' ग्रंथ में अकर्तृत्व को समझाते हुए कहा है कि—शरीर की बाल, युवा और वृद्धावस्था आती है, उसमें एक अवस्था के समय दूसरी अवस्था नहीं लाई जा सकती, क्योंकि वह कार्य जीव के आधीन नहीं है; किंतु उस अवस्था का ज्ञान किया जा सकता है; इसलिये ज्ञान करना-याद करना, वह जीव के आधीन है। इस पर से ऐसा निर्णय होता है कि जीव का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है।

लेकिन इसमें करना क्या आया ?—तो उसका उत्तर यह है कि—तू है कौन और कर क्या सकता है ?—इस बात का ज्ञान कर। तू तो ज्ञान है; ज्ञान-अज्ञान के अतिरिक्त तू अन्य कुछ भी नहीं कर सकता। ज्ञान करना, ज्ञानरूप होना कार्य तेरा है और तू उसका कर्ता है—यह तीनों काल तेरी मर्यादा है। कहा है कि:—

निजपद में रमे सो राम कहिये।

इसलिये तुझे निजपद में रमण करना चाहिये।

भगवान आत्मा शरीर, मन, वाणी और शुभाशुभ विकल्पों से पार अतीन्द्रिय आनन्द की सम्पदा से परिपूर्ण पदार्थ है, उसे अज्ञानी भूलता है; इसलिये पुण्य-पाप की जो वृत्ति उठती है, उसका मैं कर्ता और वह मेरा कार्य—इसप्रकार अज्ञानी की दृष्टि विकार पर पड़ी है; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि होता हुआ उस राग में तथा पर में कर्ताकर्मपना मानता है।

ज्ञानी गुरु मिलें तो समझ में आये न ?—तो कहते हैं कि नहीं; यदि उनके कारण समझ में आता हो तो एक ही ज्ञानी सबको समझा दें; किंतु ऐसा नहीं हो सकता। तेरा चैतन्यस्वभाव तुझमें एकमेकरूप अनंत ज्ञानानन्दमय शक्ति से परिपूर्ण है; किंतु जिसप्रकार पानी के ऊपर थोड़ा-सा तेल हो तो उस तेल को ही देखता है, किंतु उसके नीचे जो स्वच्छ जल भरा है, उसे नहीं देखता; उसीप्रकार वर्तमान अंश में जो राग-द्वेष पुण्य-पाप की वृत्ति उठती है, उतना और उसी को देखनेवाला उसकी ओट में छिपे हुए परिपूर्ण—अनादि-अनंत ज्ञातदृष्टा आनन्दमूर्ति आत्मा को नहीं देख पाता।

धर्मात्मा की दृष्टि पुण्य के ऊपर नहीं है। इन्द्र स्वयं एकावतारी हैं; किंतु जब तीर्थंकर के बालरूप को देखते हैं, तब भक्ति उछलने लगती है और आश्चर्य प्रगट करके कहते हैं कि—हे

प्रभो ! आपने अंतरंग में परमानंदमय स्वरूप का जो अनुभव किया है, वह अनुपम है, किंतु बाह्य में शरीर का रूप भी उत्कृष्ट सुंदर है; हजार नेत्रों से देखने पर भी तृप्ति नहीं होती।—इसप्रकार भक्तिभाव द्वारा अशुभ से बचने के लिये शुभराग धर्मी जीव को आता है, किंतु उसे वे करनेयोग्य नहीं मानते।

खिचड़ी जब चूल्हे पर होती है, तब प्रथम उसमें से काले रंग की भाप निकलती है और फिर सफेद रंग की भाप निकलती है और ठंडी होने पर किसी भी प्रकार की भाप नहीं निकलती; उसीप्रकार पुण्य-पाप तो काली-सफेद भाप के समान हैं; धर्मी जीव उन्हें आश्रय करनेयोग्य नहीं मानता। अपने महिमावंत चिदानंद पूर्ण स्वभाव के समक्ष उसे पुण्य-पाप का महात्म्य नहीं आता। चैतन्यस्वभाव में और उसका अनुभव में पुण्य-पाप की भाप नहीं है। जिसे ज्ञायकस्वभाव की अधिकता नहीं है किंतु राग की अधिकता है, उसे ज्ञातास्वभाव पर क्रोध है। और वह क्रोध करने योग्य मानता है; अपने को ज्ञाता स्वभावी नहीं मानता, वहाँ अनंतानुबंधी क्रोध है।

स्वभाव की महानता को छोड़कर विकार की महानता स्वीकार करना, सो अनंतानुबंधी मान है। आप स्वयं नित्य ज्ञानानंदस्वभाव है, उसकी दृष्टि होने के पश्चात् ज्ञानी को विकार का बहुमान नहीं होता। किसी भी प्रकार का राग, ज्ञातास्वभाव से विरुद्ध भाव है—टेड़ा-वक्रभाव है, ऐसा न मानकर तथा स्वभाव के सामर्थ्य को छोड़कर विपरीत मार्ग ग्रहण करना, वह अनंतानुबंधी कपट (माया) है। शुभराग को (पुण्य को) हितकारी मानना, सो अनंतानुबंधी लोभ है। यह बात तो पहले कई बार आ चुकी है, किंतु आज पुनः स्पष्टता की है।

स्वभावदृष्टि होने के पश्चात् ऐसे अज्ञानमय क्रोधादि नहीं होते, किंतु सर्व विभावों को हेयरूप जाननेवाला स्व-पर प्रकाशक ज्ञान प्रगट होता है।

आचार्य कहते हैं कि—ऐसे ज्ञान का होना—परिणमित होना, वह क्रोधादि का होना नहीं है। जिसप्रकार पानी की स्वच्छता तथा शीतलता को देखनेवाला उसके ऊपर तैरते हुए तेल की बूँदों को नहीं देखता; उसीप्रकार त्रिकाली निर्मल ज्ञानस्वभाव को ही उपादेयरूप से, एकमेकरूप से जाननेवाला, क्षणिक विकारीभावों को अपनेरूप से नहीं मानता। क्रोधादि आस्रव का आदर तथा ज्ञातास्वभाव का अनादर, ऐसा मिथ्या प्रतिभास उसे होता नहीं।

कई लोग पूछते हैं कि वर्तमान में हम क्या करें ? उसका उत्तर यह है कि—भाई ! तू कौन है और क्या कर सकता है तथा क्या नहीं कर सकता ? उसे समझने का प्रयत्न कर; वही वर्तमान में

प्रथम करनेयोग्य है, उसे समझने पर ही सच्चा समाधान होगा। बाह्य में देखता रहे कि यह मेरे कार्य और मैं इनका कर्ता, तो कभी उसके दुःख का अंत नहीं आयेगा।

प्रथम तो तेरा मूलस्वरूप क्या है, उसे लक्ष में ले। जिसप्रकार आम्र वृक्ष के फल खाने के दो प्रकार हैं—तोता सीधा उड़कर वृक्ष पर बैठता है और फल खाता है; चींटी उसके तने पर चढ़ती हुई ऊपर पहुँचती है और फल का स्वाद लेती है; किंतु फल खाने में दोनों समान हैं, कोई अंतर नहीं है; उसीप्रकार जो प्रथम भेदज्ञानी होकर आत्मा के तने को पकड़ ले, वह धीरे-धीरे सच्चे सुख का अनुभव करता है और जो उग्र पुरुषार्थ करे, वह तोते की भाँति शीघ्र ही उग्रसुख का अनुभव करता है। उसमें अंतर पड़ता नहीं, इसलिये हे जीवो! तुम प्रथम सत्य को समझो।

ज्ञानस्वरूप आत्मा की समझ—प्रतीति और उसमें एकता का अनुभव ही जीव के यथार्थ अधिकार की बात है।

संयोग प्राप्त करना, छोड़ना अथवा उनमें फेरफार करना, वह जीव के हाथ की बात नहीं है। या तो सच्चा ज्ञान करता है या अभिमान करता है। वह शरीर में रोग नहीं लाना चाहता, तथापि वह आता है। रोग के समय रोग को दूर नहीं कर सकता किंतु उसका ज्ञान कर सकता है। रोग या निरोगतारूप शरीर की अवस्था है, उसको जीव ने नहीं पकड़ा है कि उसे छोड़ सके। वह तो अज्ञान भाव से राग-द्वेष क्रोधादि विकार को पकड़ता है; वे कैसे छूटते हैं? सो यहाँ कहा जाता है कि—मैं उसरूप नहीं हूँ; मैं तो शुद्ध चैतन्यामृत हूँ; विकार मेरा कर्तव्य नहीं है, किंतु मैं शुद्ध चैतन्यमय ज्ञातास्वभाव हूँ—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि द्वारा स्वभाव को पकड़े तो उसे ज्ञान का परिणमन होता है; उसमें विकार को अपना कर्तव्य माननेरूप (ज्ञाता के प्रति) क्रोधादि नहीं होते और इसप्रकार अपना ज्ञानस्वभाव का ही अधिकपना—(विभाव से भिन्नरूप) अनुभव में आता है।

धर्म का प्रारम्भ होने में यह बात विशेष महत्वपूर्ण है। यदि यह समझ में न आये तो किसी मिथ्या उपाय से धर्म का प्रारम्भ होना नहीं कहा जाता।

दोपहर को दान अधिकार पर प्रवचन होता है; उसमें व्यवहार का ज्ञान कराने के साथ-साथ यह समझाना है कि ज्ञानी को भाव में कहाँ कैसा विवेक तथा राग होता है। उसमें बाह्य क्रिया करने या न करने की बात नहीं है; क्योंकि बाह्य में तो जीव कुछ कर ही नहीं सकता। तीव्र पाप से बचने के लिये आचार्यदेव ने दान अधिकार की अंतिम गाथा में राग मंद करने को कहा है कि—गुंजन करता हुआ भँवरा जब (वनस्पति की) कली पर बैठता है तो वह खिल उठती है; किंतु पत्थर की

कली पर बैठे तो वह खिल नहीं सकती; उसीप्रकार यहाँ दान का उपदेश सुनकर जो विवेकी-कोमल परिणामी जीव होगे, वह तो तृष्णा कम करके दान देंगे, किंतु पत्थर की कली के समान कठोर परिणामी जीव होंगे तो उसके लिये यह उपदेश व्यर्थ है। आचार्य तो नग्न दिगम्बर वनवासी थे; उन्हें कहाँ चंदा एकत्रित करना था ? उपदेश का राग आये और वाणी का योग हो तो उस काल वाणी, वाणी के कारण निकलती है; उसके स्वामी वे नहीं होते। धर्मी जीव, राग की लीला में नहीं फँसते। राग में एकता तो व्यभिचार है।

शरीर की क्रिया हो अथवा न हो, किंतु उस पर पुण्य-पाप का आधार नहीं है। सम्यक्त्वी चक्रवर्ती के हजारों रानियाँ तथा छह खंड का राज्य संयोगरूप से होता है, तथापि भेदज्ञान वर्तता है। स्त्री का राग है, तथापि उस राग को करनेयोग्य नहीं मानते। राग से पार मैं आत्मा हूँ—ऐसी दृष्टि उनकी नहीं हटती। जिसप्रकार पानी की स्वच्छता देखनेवाले को उसकी स्वच्छता ही भासित होती है, मलिनता नहीं; उसीप्रकार त्रिकाली ज्ञातास्वभाव मैं हूँ—ऐसा जो स्वभावदृष्टिवान हुआ, उसे ज्ञानस्वभाव ही भासित होता है। यह तो सम्यग्दृष्टि की बात है। इसके पश्चात् उग्र पुरुषार्थ होने पर चारित्र की ऋद्धि क्या है—वह तो अलौकिक बात है!

अज्ञानी, शरीर की क्रिया का अभिमान करता है और ज्ञानी अपने ज्ञातादृष्टा स्वभाव की दृढ़ता में वृद्धि करता है; पर का कोई कुछ नहीं कर सकता। 'मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञान है, शकट का भार ज्यों श्वान ताने'—ऐसा नरसी मेहता ने भी कहा है। मैंने इसका बनाया—बिगाड़ा; उसको मैंने धन दिया; इसका अर्थ यह है कि अपने में ऐसा राग भाव किया है। मैंने हाथ हिलाया—ऐसा सचमुच माननेवाला आत्मा को जानता ही नहीं। आत्मा को जाने बिना इसने यह किया, ऐसा कहाँ से लाया ? यह तो मात्र अज्ञानी की मान्यता है।

जीव शांत चित्त से धैर्यपूर्वक विचार करे और न्याय की परख करने में अपना ज्ञान एकाग्रता से लगाये तो सत्य क्या है, वह वर्तमान में जाना जा सकता है। बगसरा ग्राम के जागीरदार वाजसुरवाला के कुंवर अमरू खाचर था। उसने एक बार पूछा था कि—यह बात कैसे मानें कि माँस खाने में पाप है और उससे नरक में दुःख भोगना पड़ता है ? तब उनसे कहा था कि—एक नास्तिक करोड़पति सेठ है, और एक राजा है। दोनों में गाढ़ मैत्री है। सेठ के यहाँ साठ वर्ष की उम्र में एकलौता पुत्र का जन्म होता है और राजा हर्षित होकर भेंट-सौगात लेकर आता है। बालक की सुंदरता देखकर राजा को उसका माँस खाने की इच्छा हो आती है। वह सेठ से कहता

है कि—मैं इस बालक के टुकड़े करके, सेंककर खाना चाहता हूँ। तब नास्तिक ऐसा सेठ कहता है कि—अरे रे राजन्! यह अच्छा नहीं-आप क्या कहते हैं? यह तो महान पाप है... दु:ख का कारण है! तब राजा कहता है कि—मैं और तू दोनों पुण्य-पाप में, उसके फल में तथा परलोक आदि में नहीं मानते। मुझे भूख लगी है, इसलिये बालक का माँस खाने से प्रत्यक्ष सुख प्राप्त होगा; इसमें पाप कैसा? अब विचार करो कि—नास्तिक भी ऐसे समय पर 'अरे रे!' कह उठता है; और उस कृत्य को पाप ही बतलाता है। इससे साबित होता है कि पाप के कारण जीव को कभी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसने अपनी सुख-सुविधा के लिये अनेकों को दु:ख देने के मार डालने के क्रूर भाव किये हैं तथा उनमें कोई मर्यादा नहीं रखी, उसे अमर्यादित दीर्घ-काल तक निरंतर दु:ख भोगने के लिये योग्य क्षेत्र यहाँ दिखाई नहीं देता। वह तो नरक का क्षेत्र है, जो इस लोक के नीचे ही है।

कोई कहता है कि—झूठ बोले, उसकी जीभ कटे। तो हम मानते हैं कि पाप का फल मिलता है। किंतु भाई, जीभ कहाँ इस जीव की है? तूने जो झूठ बोलने के भाव किये, उससे पाप का बंध होता है और भविष्य में प्रतिकूल संयोगरूप से उसका फल मिलता है; किंतु सूक्ष्मता से देखे तो वर्तमान में ही आकुलता और दु:ख के रूप में उसका फल मिलता है; किंतु देखने में फेर है। चोरी करने या झूठ बोलने से पैसा नहीं मिलता, किंतु पूर्वभव के पापानुबंधी पुण्य के निमित्त से पैसे की प्राप्ति होती है। तूने जैसे रागद्वेषरूपी भाव किये, वैसा ही आकुलता का दु:ख तुझे उसी समय प्राप्त होता है।

ऋषि, साधु, यति, मुनित्व

(परमात्म-पुराण) गतांक नंबर २०० से आगे

आगे प्रमेयत्वगुण को चार भेद लगाइये है

प्रमेयत्व ने सब को प्रमाण कहने योग्य किये हैं। द्रव्य प्रमाण करने योग्य, गुण प्रमाण करने योग्य प्रमेयत्वगुण ने किये हैं। प्रमेय बिना वस्तु प्रमाणयोग्य न होय। अप्रमाण दूर करने को प्रमाण किये, इससे प्रमाणयोग्य प्रमेय रखे हैं। अनंत गुण में लक्षण प्रमाण करने योग्य; प्रदेश प्रमाण करने योग्य; सत्ता प्रमाण करने योग्य, गुण को नाम प्रमाणयोग्य, क्षेत्र प्रमाणयोग्य, काल प्रमाणयोग्य, संख्या प्रमाणयोग्य, प्रमेयवस्तुत्व प्रमाणयोग्य, प्रमेयद्रव्यत्व प्रमाणयोग्य, प्रमेयअगुरुलघु प्रमाणयोग्य, अनंत गुणप्रमेय प्रमाणयोग्य हुये, सो सब प्रमेयगुण की रिद्धि फैली है। प्रमेय से प्रमाण की प्रसिद्धता है। प्रमाण से प्रमेय है। प्रमेय प्रमाण दोनों से वस्तु प्रसिद्ध प्रगट ठहराइये है। जैसे तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग देवाधिदेव प्रमाणयोग्य है, उन्हीं का वचन प्रमाणयोग्य है। तैसे वस्तु प्रथम प्रमाणयोग्य हो तो गुण प्रमाणयोग्य होय।

प्रमेय सब स्वरूप की सर्वस्वता को प्रमाण करने योग्य करे है। इसलिये ऐसी रिद्धि अखण्डित धारे, इससे प्रमेयगुण ऋषि कहिये।

प्रमेयगुण को साधु कहिये

प्रमेय परिणाम द्वारा अपनेरूप को स्वयं साधे इसलिये साधु, सब गुण प्रमाण करनेयोग्यपना द्वारा साधै, इसलिए साधु है। प्रमेय विकार को न आने दे, इससे यति। दर्शन का दर्शन विकार अदर्शन प्रमेय न आने दे। ज्ञान का अज्ञान विकार ज्ञानप्रमेय न आने दे। वीर्य का अवीर्य विकार वीर्यप्रमेय न आने दे। अतीन्द्रिय अनंत सुख भोग का इन्द्रीजनित सुखादि दु:खविकार सो अतीन्द्रिय भोगप्रमेय न आने दे।

सम्यक्त्व निर्विकल्प यथावत् सम्यक् निश्चयरूप निजवस्तु का सम्यक्त उसका विकार मिथ्यात्व को सम्यक्तप्रमेय न आने दे। ऐसे अनंत गुण विकार को अनंत गुण प्रमेय न आने दे। एक यतीपद प्रमेय गुण ने धारण किया, इससे विकारता प्रमेय ने हरण किया-हटाया। इसलिये यती प्रमेयगुण को कहिये। प्रमेय ज्ञान का उसमें अनंत ज्ञान आया, इसलिये मुनि प्रमेयगुण को कहिए। सब गुण को ज्ञान प्रत्यक्ष किया, ज्ञान प्रमेय में ज्ञान, इसलिये प्रमेयगुण मुनि हुआ।

इसप्रकार ज्ञान गुण को चार भेद—

ज्ञान को ऋषि संज्ञा कैसे हुई ?—ज्ञान अपना जानपना का स्वसंवेदन विलास सहित है, ज्ञान के जानपना है, इससे आपको स्वयं जानता है, आपके जानै आप शुद्ध है। आनन्दामृतवेदना ज्ञानपरिणतिद्वार से आप ही आप अपने में लाकर रसास्वाद ले है। जिसके उपचारमात्र से ऐसा कहिये। ज्ञान में तीनों काल संबंधी ज्ञेयभाव प्रतिबिंबित भये सर्वज्ञता हुई, लोकालोक असद्भूतउपचारनय से ज्ञान में आये। ज्ञान अपने स्वभाव द्वारा स्थिर है, युगपत् है, अखण्ड है, शाश्वत् है, आनन्दविलासी है, विशेषगुण है, सब में प्रधान है। अपने पर्यायमात्र द्वारा अनंत पदार्थ का भासक है। वीर्यगुण दर्शन को निराकार निष्पन्न रखने की सामर्थ्यता धरें, ज्ञान निष्पन्न रखने की सामर्थ्यता धरें, प्रमेय निष्पन्न रखने की सामर्थ्यता धरें, सब द्रव्य-गुण-पर्याय *निष्पन्न (* निष्पन्न-रचना; प्राप्ति; सिद्धि।) रखने की सामर्थ्यता धरे, सो जो ज्ञान न होता तो ऐसे वीर्य की सकल अनंत शक्ति, अनंत पर्याय अनंत नृत्य-थट-कला-रूप-सत्ताभाव-रस-तेज-आनन्द-प्रभावादि अनंत भेदभाव को न जानता। जब न जाने, तब देखना न होता। देखना न भये अदृश्य भया, जब अदृश्य भया तब अभाव होता। ऐसे वीर्य को ज्ञान ही प्रगट करे है (-प्रकाश में लाता है) और प्रदेशगुण असंख्यात प्रदेश धरे है, एक-एक प्रदेश में अनंत अनंत गुण नित्य असंख्यात प्रदेशी-अनंत पर्याय, अनंत शक्ति से शोभायमान सत्तासद्भाव वस्तुत्वभाव, अगुरुलघुत्वभाव, सूक्ष्मभाव, वीर्यभाव, द्रव्यत्वभाव, अवगाहभाव, प्रमेयत्वभाव, अमूतत्त्वभाव, प्रभुत्वभाव, विभुत्भ्वभाव, तत्त्वभाव, अतत्त्वभाव, भावभाव अभावभाव, एकभाव, अनेकभाव, अस्तिभाव, शुद्धभाव, नित्यभाव, चैतन्यभाव, परमभाव, निजधरमभाव, ध्रुवभाव, आनन्दभाव, अखंडभाव, अचलभाव, भेदभाव, अभेदभाव, केवलभाव, शाश्वतभाव, अरूपभाव, अतुलभाव, अजभाव, अमलभाव, केवलभाव, शाश्वतभाव, अरूपभाव, अतुलभाव, अजभाव, अमलभाव, सविकारभाव, अच्छेदभाव, अमितभाव-(अमर्यादत्व, बेहदत्व) प्रकाशभाव, अपारमहिमाभाव, अकलंकभाव, अकर्मभाव, अघटभाव, अखेदभाव, निर्मलभाव, निराकारभाव, निष्पन्नभाव, नि:संसारभाव, नास्तित्वभाव, अन्यत्वभाव से रहित भाव, कल्याणभाव, स्वभाव, पररहितभाव, चेतनागुण के रहित भाव, कल्याणभाव, स्वभाव, पररहितभाव, चेतनागुण से व्यापकभाव, ऐसे अनंतभाव, एक-एक गुण धारण करते हैं।

ऐसे अनंत-अनंत गुण एक-एक प्रदेश धारण करता है, सो ज्ञान ने वे प्रदेश जाने, तब प्रगटे (प्रकाश में आये) बिना ज्ञान उन प्रदेशों की सकल विशेषता को न जानता। इसलिये प्रदेश की

महिमा जानने के लिये ज्ञान है। सत्तागुण शाश्वत् लक्षण को धारण करके द्रव्यसत्, गुणसत्, पर्यायसत्, अगुरुलघुसत्, सूक्ष्मसत्, अनंत गुणसत्, महासत्, अवान्तरसत्, एकपर्यायसत्, अनेकपर्यायसत्, विश्वरूपसत्, एकरूपसत्, सर्वपदार्थ स्थितिसत्, एक-एक पदार्थस्थितिसत्, त्रिलक्षणसत्, अत्रिलक्षणसत् ऐसे सत्ता भेदज्ञान जानता है, तब प्रगट होता है। (अर्थात् ज्ञान से वह प्रकाश में आता है) इसलिए ज्ञान प्रधान है।

सूक्ष्म के भेद द्रव्यसूक्ष्म, गुणसूक्ष्म, पर्यायसूक्ष्म, ज्ञानसूक्ष्म, दर्शनसूक्ष्म, वीर्यसूक्ष्म, सुखसूक्ष्म, अगुरुलघुसूक्ष्म, द्रव्यत्वसूक्ष्म, वस्तुत्वरूपसूक्ष्म, ऐसे अनंत गुणसूक्ष्म, ऐसे भेदज्ञान ही प्रगट करता है; इसलिये ज्ञान प्रधान है। ऐसे अनंत गुण के अनंत अपार महिमा मंडित भेद यह ज्ञान ही प्रगट करता है। इसलिये ज्ञान में ऐसी ज्ञायकऋद्धि है। इससे आगे ऋषि कहते हैं।

आगे ज्ञान को साधु कहते हैं—

ज्ञान अपनी ज्ञायक परिणति द्वारा आपको स्वयं साधता है। अनंत ज्ञान में सब व्यक्त हुए इससे सब प्रगट किये। और सबके प्रगट भाव करने का साधक है, इससे ज्ञान साधु है। ज्ञान द्वारा स्वरूप सर्वस्व साधता है, आत्मज्ञान ही से सर्वज्ञ महिमा को प्राप्त करता है। ज्ञान सकल चेतना में विशेष चेतना है, इसलिये स्वरूपसाधन है। आत्मा के परमप्रकाश ज्ञान ही का बड़ा है, प्रधानरूप है, इसलिये सब प्रभुत्व साधक है। ज्ञान अनंत, अविनाशी आनन्द का साधक है, सो ज्ञान की साधकता क्रम से नहीं हैं किंतु युगपत् साध्यसाधकभाव है, कैसे—एकबार सबका प्रकाशक है। जिससे जो ज्ञान भाव साधु भला समझेंगे तो वह अविनाशी नगरी का राजा होगा ही। इसलिये ज्ञान को साधु जानकर सब जीव सुख पावो।

आगे ज्ञान को यति कहते हैं—

ज्ञान, अज्ञानविकार के अभाव से शुद्ध है। इस संसार में सब जीव अनादि कर्मयोग से (-कर्म में जुड़ने से) पर को स्व मानकर मोहित होकर दुःखी हुआ, सो एक अज्ञान की महिमा, इसलिए जन्मादि दुख से व्याकुल हैं। उस अज्ञानविकार को (ज्ञान ने) मिटाया, तब पूर्वकथित ज्ञानप्रभाव प्रगट हुआ, इससे अज्ञानविकार को जीतकर ज्ञान यति हुआ। ऐसे ज्ञान यतिभाव को जाना जाय तो ऐसे ज्ञान यतिभाव को प्राप्त करे, इसलिये ज्ञानयतिभाव जानने योग्य है।

ज्ञान को मुनि कहते हैं—

ज्ञान प्रत्यक्ष का धारक मुनि है, सो ज्ञान स्वस्वरूप ही है। और को प्रत्यक्ष जानते हैं, इसलिए मुनि है।

समयसार : कर्त्ताकर्म अधिकार

(जामनगर में पूज्य गुरुदेव के प्रवचन)

[दिनांक १९-१-६१]

यह समयसार शास्त्र है; इसमें कहा हुआ कर्ताकर्म का स्वरूप खास अवश्य समझने योग्य है। जीव जहाँ अपना अधिकार मानता है, वहीं स्वामित्व (कर्तृत्व) करता रहता है।

आत्मा और मिथ्यात्वादि आस्रवों का भेदज्ञान होते ही अंतर में ज्ञायक मात्र हूँ—ऐसा समझकर स्वसन्मुख होता है, वह सम्यग्दर्शन है; वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।

मैं पर से निराला हूँ, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है; किसी के कारण किसी का टिकना—बदलना नहीं होता; शरीर की क्रिया मेरी नहीं है, मेरे आधार से नहीं है। पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव वर्तमान दशा में होते हैं किंतु वह मेरा स्वरूप नहीं है, उसमें मेरा कर्ता-कर्मपना नहीं है—इसप्रकार पर से भिन्न और अपने अनंत गुणों से एकाकार चिदानंद हूँ—ऐसा प्रथम निर्णय करना चाहिये। फिर अपने निर्मल त्रिकाली स्वभाव को उपादेय मानकर, वही मैं हूँ—ऐसा एकाग्रतापूर्वक अनुभव करे तब सत्य, हितकारी धर्म का प्रारम्भ होता है।

जीव अनादि काल से अज्ञान द्वारा पुण्यादि की धूल में अनुकूलता-प्रतिकूलता मानकर, संयोग तथा विकार की रुचि करता आ रहा है; इसलिये शरीर की क्रिया और आकृति देखकर बाह्य से भले-बुरे का निर्णय करता है। अधिक करता है तो दया, दान, पूजा, भक्ति के स्थूल व्यवहार तक पहुँचकर उसमें धर्म मान लेता है। अनंतबार करोड़पति सेठ हुआ; राजा, रंक तथा हजारों शास्त्रों का ज्ञाता पण्डित हुआ; त्यागी नाम धारण करके अपने माने हुए सर्व साधन किये, किंतु उससे आत्मज्ञान नहीं होता। यही बात श्रीमद् राजचंद्रजी ने भी कही है कि:—

यम नियम संयम आप कियो,
पुनि त्याग वैराग्य अथाग लह्यो।
वनवास लह्यो मुख मौन रह्यो,
दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।
मन पौन-निरोध स्वबोध कियो,
हठ जोग प्रयोग सुतार भयो।

जप भेद जपे तप त्यों ही तपे,
उर सें ही उदासी लही सब पै।
सब शास्त्रन के नय धारि हिये,
मत मंडन खंडन भेद लिये।
वह साधन वार अनंत कियो,
तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।
अब क्यों न विचारत है मन सें,
कछु और रहा उन साधन सें।
बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे,
मुख आगल है वह बात कहे।
करुणा हम पावत हैं तुमकी,
वह बात रही सुगुरुगम की।
पल में प्रगटे मुख आगल से,
जब सद्गुरु चरण से प्रेम बसे।
तब कारज सिद्ध बने अपनो,
रस अमृत पावहिं प्रेम घनो।

प्रभो ! अपने मूलस्वरूप की बात तूने नहीं सुनी है। समस्त आत्माओं से 'प्रभु' कहते हैं। शक्तिरूप से जो प्रभुत्व है, वही प्रभुपद व्यक्त वर्तमान दशा में प्रगट होता है, कोई कुछ देता नहीं है। सच्ची जिज्ञासा से समझे तो निमित्त को 'निमित्त' कहा जाता है।

श्रीमद् कहते हैं कि:—

''जे स्वरूप सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां
कही शक्या नहिं ते पण श्री भगवान जो,
तेह स्वरूपने अन्य वाणी तो शुं कहे,
अनुभव गोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।
अपूर्व अवसर एवो.....''

श्रीमद् राजचंद्रजी ने २९ वर्ष की उम्र में इस महाकाव्य की रचना की थी। १६ वर्ष की उम्र

में उन्होंने 'मोक्षमाला' नामक पुस्तक लिखी थी।

उन्हें अपूर्व भान (आत्मज्ञान) था। शरीर मेरा नहीं है तो स्त्री-पुत्रादि मेरे कैसे होंगे? जिसप्रकार विवेकी जीव पानी में से काई हटाकर स्वच्छ जल पीता है, उसीप्रकार विवेकशील ज्ञानी पुरुष रागदशा होने पर भी उससे रहित ज्ञानस्वरूप का ही अनुभव करते हैं। दया, दान, पूजा, भक्ति आदि के शुभभाव तो पुण्यभाव हैं; हिंसा, काम-क्रोधादि अशुभ पापभाव हैं—वे दोनों आस्रवतत्त्व हैं, बंधन के कारण हैं। ज्ञानी का पंच महाव्रत का शुभराग भी आस्रव है—मलिन है; उसरूप होनेवाला मैं नहीं हूँ, किंतु उन सर्व आस्रवों से पार ज्ञानानंद हूँ; उसमें लीन होकर अंतर में ढलने से आत्मा में निर्विकल्प आनन्ददशा प्रगट होती है, उसे संवर-निर्जरा, मोक्षमार्ग कहा जाता है। उस शुद्धभावरूप परिणमित आत्मा को ही आत्मा कहते हैं—यही बात त्रैकालिक है; बाह्यक्रिया तथा शुभराग में अशुद्धतारूप धर्म नहीं है।

एक वणिक की स्त्री चावल अलग करने के लिये धान कूट रही थी। चावल तो वजनदार होने से नीचे चले जाते थे और उनका भूसा ऊपर दिखायी देता था। एक दूसरी स्त्री ने दूर से देखा और वह भी अपने घर जाकर चावल का भूसा कूटने लगी। लेकिन उसमें से चावल कैसे मिल सकते हैं? उसीप्रकार धर्मी जीव अपने परिणामों (भावों) के अनुसार बंध-मोक्ष और अहित-हित का होना मानता है; बाह्य क्रिया तथा शुभाशुभ विकल्प का उसे आदर नहीं है, वह उनका कर्ता-भोक्ता या स्वामी नहीं होता, तथापि (पूर्ण वीतराग न हो तब तक) भूमिकानुसार दया, दान, पूजा, भक्ति का राग आता है। अज्ञानी तो ज्ञानी की बाह्य क्रिया देखकर नकल करता है; किंतु बाह्य दृष्टि के कारण निश्चय का भाव दृष्टिगोचर नहीं होता, वह तो अंतर्दृष्टि से ही दिखायी देता है। अज्ञानी मानते हैं कि हम भी धर्म की क्रिया करते हैं, किंतु वे तो भूसा ही कूटते हैं। अंतर की अतीन्द्रिय अनुभवरूप ज्ञानक्रिया को वे नहीं समझते।

धर्मी जीव देवों का इन्द्र हो या मनुष्य हो, भक्तिभाव से पाँवों में घुँघरु बाँधकर भगवान की मूर्ति के समक्ष नृत्य करते हैं, दान देते हैं, किंतु वे राग को या शरीर की क्रिया को संवर-निर्जरारूप धर्म नहीं मानते; वीतरागी दृष्टि और वीतरागी स्थिरता को ही धर्म मानते हैं।

नकल का दृष्टांत

जंगल में कुछ मनुष्य शीत ऋतु में घास जलाकर ताप रहे थे। उसे देखकर कुछ बंदरों ने उनकी नकल की और घास इकट्ठा करके उसमें एक जुगनू को रखकर सुलगाने का प्रयत्न करने

लगे; लेकिन उससे न तो आग पैदा हुई और न ठंड दूर हुई। उसीप्रकार अज्ञानी लोग तत्त्व को समझे बिना ज्ञानियों की बाह्यक्रिया देखकर उसकी नकल करते हैं, किंतु उससे अज्ञान दूर नहीं होता।

चौथे गुणस्थान में व्रत नहीं होते, किंतु पूजा, भक्ति, दान के शुभभाव होते हैं। पाँचवें गुणस्थान में दो कषायों का अभाव होने के कारण अणुव्रत होते हैं; मुनिदशा में महाव्रत—नग्नदशा आदि २८ मूलगुण होते हैं। कोई उन्हें बाह्यदृष्टि से देखकर नकल करे तो उसकी भ्रमणा उन्हीं बंदरों जैसी है जो ठंड दूर करने के लिये जुगनू को पकड़कर आग जलाने का प्रयत्न करते हैं।

निमित्त होता है, किंतु उससे कल्याण नहीं होता; यदि कल्याण होता हो तो एक तीर्थंकर ही सबको संसार से तार दे, किंतु ऐसा हो सकता नहीं। दूसरों को समझा दे, वही ज्ञानी है—ऐसा कोई माने तो ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। जिसप्रकार बादाम पर छिलका होता है, फिर अंदर एक पतला खोल होता है; उसके भीतर जो सफेद बीज रहता है, वह असली बादाम है; उसीप्रकार शरीर एवं शुभाशुभराग से पार अंतर में शुद्ध ज्ञानानंदमूर्ति आत्मा है; उससे विरुद्ध रागादि अथवा पुण्य-पाप ऊपर के छिलके समान हैं—मैल हैं—आस्रव हैं और उनसे रहित चैतन्य नित्य है; उसे दृष्टि में लेना, उसका आदर (आश्रय) करके उसमें एकता का अनुभव करना, वह धर्म है।

पुण्य-पाप का कर्तृत्व है, वह ज्ञाता आत्मा को अरुचिरूप क्रोधादि है; ऐसा राग हो तो ठीक रहे—इसप्रकार विकार की महत्ता करना, वह निर्विकार आत्मा को तुच्छ समझनेवाला मान है; राग और त्रिकाली ज्ञान का भेदज्ञान करने की शक्ति को छिपाना, सो कपट (माया) है। जो पुण्य को भला मानता है, वह ज्ञाता को बुरा माननेवाला (तुच्छ माननेवाला) लोभ है। ज्ञानी को अमुक सीमा तक पुण्य-पाप की वृत्ति उठती है, किंतु उसने उस पर से दृष्टि उठाकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा अंतर में प्रवेश किया है; इसलिये वह रागादि का कर्ता नहीं है किंतु व्यवहार से ज्ञाता है। अतीन्द्रिय आनन्ददशा धर्मात्मा को प्रगट होती है। जीवों को अनादि काल से अंतरंग तत्त्व की प्रतीति नहीं हुई है; किंतु जिज्ञासापूर्वक सत् श्रवण करके तत्त्व विचार में सावधान होकर स्वसन्मुख होने से, आत्मा में एकाग्रतापूर्वक सम्यग्दर्शन-सत्य प्रतीति हो सकती है।

अपनी भूल के कारण राग-द्वेष, पुण्य-पाप की वृत्ति उठती है, किंतु उतना तथा वैसा ही आत्मा नहीं है। अपना स्वरूप रागादि आस्रवों से पार है; उस स्वरूप की ओर उन्मुख होकर जीव ज्ञातृत्व प्रगट करे, उस दशा का नाम क्षमा (अहिंसा) धर्म कहा जाता है।

जानने-मानने में क्या है... कुछ करना भी तो बतलाइये!—ऐसा कुछ लोग कहते हैं; परंतु

वह तो राग का कार्य है। राग तो जीव अनादि कर्ताबुद्धि से करता आ रहा है, ज्ञानी वह करने को क्यों कहेंगे? उन जीवों को 'मैं ज्ञाता हूँ'—ऐसे अपने मूलस्वरूप की अरुचि है, इसलिये उन जीवों को भगवान, आत्मा नहीं कहते।

अज्ञानी को पुण्यादि विकार का प्रेम है, इसलिये वह उसका कर्ता होकर परिणमित होता है। जिस जीव को त्रिकाली निर्विकारी 'ज्ञायकस्वभाव' के प्रति शत्रुता है, वह जीव स्वभाव का बहुमान छोड़कर राग का बहुमान करता है। इसलिये उसे मिथ्यात्व का बहुमान है; वही अनंतानुबंधी मान कहलाता है।

भेदज्ञान से ही धर्म का प्रारम्भ होता है

[समयसार : कर्ताकर्म अधिकार गाथा ७२ पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(जामनगर, तारीख २४-१-६१)

धर्म का प्रारम्भ भेदज्ञान से होता है; इसलिये भेदज्ञान की रीति स्पष्टरूप से समझाते हैं—आत्मा, शरीर से भिन्न और अपने भावों से अभिन्न है;—ऐसा जानने के साथ ही यह भेदज्ञान होना चाहिए कि—क्षणिक विकार तथा पुण्य-पाप की वृत्ति त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव से भिन्न है। अशुभभाव-पाप को तो दु:खदायी माने, किंतु शुभभाव-पुण्य को भला अथवा सुखदाता माने, कर्तव्य माने तो भी भेदज्ञान नहीं होता। दु:ख के कारण को सुख का कारण मानता रहता है, इसलिये दु:ख दूर नहीं होता।

शुभाशुभभाव तो जल से विपरीत सेवार (काई) के समान मैल है। ज्ञानी की भूमिका हो या अज्ञानी की; किंतु उसकी मर्यादा (शुभाशुभराग की मर्यादा) संसार मार्ग में है। इसकारण आस्रव सदा अपवित्र हैं—कलंक हैं, और भगवान आत्मा तो सदैव अतिनिर्मल चैतन्यमात्र स्वभावरूप से अनुभव में आता है, इसलिये अत्यंत पवित्र है-उज्ज्वल है।

और शुभाशुभ आस्रव कैसे हैं?—कि उनमें सदैव जड़स्वभावपना (जड़त्व) है। स्व-पर को जाने, सो चेतन; किंतु उसका अंश भी आस्रवों में नहीं है; इसलिये वे सदा अचेतन हैं। वे दूसरों

के द्वारा ज्ञान होने योग्य हैं, इसलिये भी वे चैतन्य से अन्य स्वभाववान हैं—प्रकाश तथा अंधकार की भाँति।

जिसप्रकार प्रकाश, अंधकार को उत्पन्न नहीं कर सकता और अंधकार द्वारा प्रकाश की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसीप्रकार आत्मा और शुभाशुभ आस्रवों में सदैव अत्यंत भिन्नता है—ऐसा भावभासनरूप स्पष्ट भेदज्ञान प्रथम होना चाहिये। इसके बिना व्रत-तप करे, शास्त्र पढ़े, वन में रहे, मौन धारण करे और राग मंद करे; किंतु वह स्वयं अज्ञानभाव-अजागृतभाव होने के कारण उसके द्वारा कभी किसी को आत्मस्वभाव की प्राप्ति नहीं होती—ऐसा वीतरागमार्ग का नियम है। उसमें कभी किसी के लिये अपवाद नहीं हो सकता है। जब तक सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये हित के-मार्ग को नहीं मानता, तब तक जीव संसार में अनंतानंत अवतार धारण करता हुआ अज्ञान-द्वारा ही दुःखी हो रहा है। जिसे बाह्य में मौज मजा भासे-बाह्य में आनन्द का अनुभव हो रहा हो, ऐसा जीव दुःख को दुःख क्यों मानेगा ?—नहीं मान सकता।

'नियमसार' टीका में मुनिराज कहते हैं कि—अनंत संसार-दुःख से छूटने का उपाय बतलानेवाले जिनेन्द्र भगवान सर्वज्ञ देव हैं; उनके प्रति यदि तुझे श्रद्धा-भक्ति नहीं है तो याद रख कि तू अगाध जल से भरे हुए समुद्र के बीच मगरमच्छ के मुँह में ही है। उसका स्वभाव है कि पाँव पकड़ने के बाद छोड़ता नहीं है—गहरे पानी में खींच ले जाता है। (जिसप्रकार नाव में से लड़के ने पानी में पाँव डाला और मगर ने उसे पकड़ लिया, वहाँ उसे कोई शरण नहीं हुआ।) उसीप्रकार अज्ञान एवं पुण्य-पाप आत्महित के लिये किसी को शरणभूत नहीं होते।

शुभाशुभभावों का स्वामित्व, सो मिथ्यात्व है; वही मुख्य परिग्रह है। जो शरीरादि में तीव्र ममता करता है, तीव्र अभिमान और घोर पाप करता है, वह सातवें नरक तक जाता है।

श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि—'हे नाथ! सातवें महातमप्रभा नरक की वेदना संमत है किंतु जगत की मोहिनी (स्वरूप की भ्रमणा) संमत नहीं है। क्षण-क्षण भंयकर भावमरण करानेवाले मोहभाव के दुःख अति महान हैं।'

नरक में तथा एकेन्द्रियदशा में तूने अनंत काल तक ऐसे दुःख सहन किये हैं जिन्हें स्वयं भोगनेवाला या केवलज्ञानी भगवान ही जान सकते हैं। इसप्रकार चार गतियों में दुःख ही है। एक अपनी आत्मा का अवलोकन करे तो उसमें सदा सुख ही है। जीव का सीधा-उलटा पुरुषार्थ ही सुख-दुःख दाता है।

इस समय बिच्छु की वेदना भी सहन नहीं होती, किंतु अज्ञानभाव से अनंत बार दुर्गति में गया, वहाँ अनंत दुःख सहन किये... अनंत भव धारण किये... तेरी माता ने भी अनंत बार रुदन किया... उन आँसुओं को इकट्ठा किया जाये तो अनंत समुद्र भर जायें। और तूने इतनी माताओं का दूध पिया कि जिससे अनंत समुद्र भर जायें.... किंतु तृष्णा-ममता की ओट में रुकने से आत्मा में भरे हुए आनन्दरस का श्रद्धान तथा आस्वादन तू नहीं कर सका।

कोई कहे कि यथार्थ आत्मज्ञान होने पर जीव को तुरंत त्यागी हो जाना चाहिये, तो उसकी बात बराबर नहीं है। श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) का कार्य अलग है, और चारित्र का कार्य अलग है। ज्ञानी को वर्तमान चारित्र की निर्बलता के कारण गृहस्थदशा का राग होता है, तथापि संसार, शरीर और भोगादि में उसे किंचित्मात्र प्रेम नहीं होता। वह अंतर में तो नित्य अबंध-असंग पूर्ण चैतन्यस्वभाव का ही अवलोकन करता है और उसी में सदा प्रीतिवंत है।

जगत के जीव धनवान को सुखी मानते हैं, किंतु जिसे परवस्तु की आवश्यकता पड़ती है, वह सुखी कैसा! इस जीव ने अनादि काल से पर के बिना, धन के बिना ही चलाया है, किंतु उसकी ऐसी विपरीत मान्यता है कि उनके बिना नहीं चल सकता। रागभाव तो पराधीनता है—दुःख है; उसके बिना जो चलाना चाहते हैं, वह सुखी होता है।

प्रथम तो विपरीत अभिप्रायसहित शुद्धात्मा के आलम्बन के बल द्वारा निर्मल श्रद्धा में सुखी होता है और फिर आत्मा का चारित्र अर्थात् अंतरंग एकाग्रता के अनुसार सुखी होता है।

संयोग से सुख-दुःख नहीं है, किंतु संयोग और विकार की ममता, वह दुःख है। राग किसी भी प्रकार का हो वह दुःख ही है; इसप्रकार जिसे दुःख का अनुभव हुआ हो, उसे त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ सर्व दुःखों से छूटने का रास्ता उपाय बतलाते हैं।

जब ज्वर का प्रकोप होता है, तब मीठा दूध भी अच्छा नहीं लगता और न भोजन की रुचि होती है; उसीप्रकार मिथ्या रुचिवान जीव को पवित्र धर्म के वचन रुचता नहीं।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि—तुझे मिथ्यात्वादि दुःख का दुःखरूप अनुभव हो तो दुःखों से मुक्त होने की बात कहूँ। व जिसे बंधन से छूटने की उत्कंठा हो, उससे यह बात कहना-तृषातुर को पिलाना।

जिसे भवक्लेश की थकान लगी हो, वह अंतर में विश्राम ढूँढ़ता है कि अरे! पर के लिये वृत्ति उठती है, वह आकुलता है; शुभराग भी करने योग्य नहीं है। शुभराग होता अवश्य है किंतु उसे

श्रद्धा में आदरणीय नहीं मानना चाहिये। दया, दान या महाव्रतादि के शुभभाव पुण्य आस्रव हैं और हिंसादि के अशुभभाव पापास्रव हैं—दोनों मलिन हैं—आकुलता है; उनकी श्रद्धा छोड़कर उनसे रहित वीतरागी हो, तब सुखी होता है। उस संबंध में जल में काई का दृष्टांत दिया है।

जिसप्रकार काई में जल नहीं है और स्वच्छ शुद्ध जलस्वभाव में काई नहीं है; उसीप्रकार पुण्य-पाप विकार है, उसमें निर्मल चैतन्यस्वभाव नहीं है; राग में मैं नहीं हूँ, मुझमें राग नहीं है; मैं तो त्रिकाल ज्ञाता ही हूँ—इसप्रकार स्वसन्मुख होने पर आस्रवों की रुचि छूट जाती है।

अनादि से विकार में, व्यवहार-पराश्रय में सुख मानकर अज्ञान द्वारा उसमें कर्ता-कर्मपना मान रहा था। जब भेदज्ञान द्वारा त्रैकालिक निर्मलस्वभाव और क्षणिक विभाव का भेद जाना, ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि डाली कि तुरंत अज्ञानमय आस्रव छूट ही जाते हैं।

जब तक आस्रवों की विपरीतता न जाने, वे सचमुच दु:खदाता हैं—ऐसा न माने, तब तक उनसे छूटना नहीं चाहता। भले ही कोई बड़ा महात्मा कहलाता हो, किंतु उसे पुण्य का—शुभराग का प्रेम आदर है तो वह महात्मा नहीं किंतु पामर है-दुरात्मा है।

शुभभाव हो या अशुभ हो, विकार का तो अंश भी चेतन का विरोधी है, वह आत्मा का मूलरूप नहीं है किंतु विरूप है। क्षणिक होने के कारण वह दूर हो जाता है—और जो दूर हो जाता है, वह तेरा नहीं हो सकता—ऐसी श्रद्धा प्रथम करना चाहिए।

यह बात लक्ष में लेना चाहे तो न समझे, ऐसी नहीं है किंतु अवश्य समझ में आ सकती है। जो समझ सके, उसी से यह बात उसकी शक्ति अनुसार कही जाती है। आचार्य कहते हैं कि—यह बात आत्मा से कही जा रही है, जड़ से नहीं। शरीर से या शुभाशुभराग से यह बात नहीं कहते हैं, क्योंकि वे तो सदा जड़-अचेतन हैं; और देह तथा रागादि से भिन्न जो चैतन्य है, वही आत्मा है; वह सदा ज्ञातास्वरूप ही है, इसलिये उससे कह रहे हैं।

ज्ञानी सर्व आत्माओं को अपने समान ही जानते हैं—

सर्व जीव हैं ज्ञानमय, ऐसा जो समभाव
सो सामायिक जिन कहें, प्रगट करे भवपार।

मैं सर्व जीवों को क्षमा करता हूँ और सर्व जीव मुझे क्षमा करें, मेरा किसी के साथ बैर-विरोध नहीं है। त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव और क्षणिक विकार में एकत्व माननेरूप जो राग की रुचि थी अर्थात् स्वभाव का विरोध था, वह दूर हो गया है।

धर्मात्मा गृहस्थदशा में भी कैसे होते हैं, उसका वर्णन करते हुए पंडित बनारसीदासजी कहते हैं कि:—

स्वारथ के साचै, परमारथ के साचै चित,
साचै साचै बेन कहैं, साचै जैनमति हैं,
काहु के विरुद्ध नाहिं, परजायबुद्धि नाहिं,
आतम गवेषी न गृहस्थ हैं न यति हैं।

[पुण्य-पाप मेरे, मैं उनका; पुण्य-पाप करने योग्य हैं—ऐसी पर्यायबुद्धि नहीं है। अंतर चिदानंद में डुबकी लगाकर शांति की शोध में लगे हैं। मैं गृहस्थ हूँ; मैं यति हूँ—ऐसे विकल्प उनकी श्रद्धा में नहीं हैं; निरपेक्षदृष्टि होकर जहाँ खड़े हैं, वहाँ अतीन्द्रिय आनन्दमय आत्मरस में खड़े हैं, इसलिये न उन्हें गृहस्थ कहते हैं, न साधु कहते हैं।]

रिद्धि सिद्धि वृद्धि दिसे घट में प्रगट सदा,
अंतर की लच्छी सों अजाची लक्षपति हैं;
दास भगवंत के उदास रहें जगत सों,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।

धर्मात्मा कैसे होते हैं?—कि अपने पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण गृहस्थदशा में हों, व्यापार-राजपाट हो, तथापि राग का आदर नहीं है, एकताबुद्धि नहीं है। रागरहित स्वभाव में एकता वर्तती है। मात्र आत्महितरूप प्रयोजन की सिद्धि में ही सावधान हैं; शेष सब गौण हैं—तुच्छ हैं।

सत्य वचन कहते हैं—अर्थात् वीतरागता का वचन—वीतरागता के हेतु उनका उपदेश होता है। 'रिद्धि, सिद्धि, वृद्धि दिसे घट में (आत्मा में) प्रगट सदा', अर्थात् वे मानते हैं कि हमारे हृदय में, श्रद्धा में, ज्ञान में सदैव चिदानंद की ऋद्धि-सिद्धिरूप सम्पदा विद्यमान है—बाह्य में कुटुम्ब-परिवार या धन-दौलत-प्रतिष्ठा वह हमारी सम्पदा नहीं है।

ज्ञानी जीव अंतर की लक्ष्मी से प्रतापवंत—शोभायमान हैं; विकार की एकत्वबुद्धि छोड़कर शाश्वत चैतन्यमय पूर्ण आनन्द की अंतर्दृष्टि तथा शांतिरूपी स्वधन द्वारा अयाचक ऐसे लक्षाधिपति हैं—सम्पत्ति के स्वामी हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव वीतराग के दास हैं—अन्य किसी के दास नहीं हैं। जिस मार्ग द्वारा जिनेन्द्र भगवान ने अक्षयसुख प्राप्त किया, ठीक उसी मार्ग पर वह चलनेवाले हैं, तथा निरंतर आत्मरस में डुबकी लगाकर अनाकुलता का स्वाद लेनेवाले सदा सुखी हैं। सम्यग्दृष्टि

जीव ही पूर्ण सुख-मोक्ष सुख का अधिकारी होने से आँशिक सुख तो निरंतर भोगते हैं।

आत्मा में आस्रव भाव (मिथ्यात्वादि मलिन भाव) संतान प्रवाह अपेक्षा अनादि काल से हो रहा है; तो भी वह एक क्षण में कैसे दूर हो सकता है ?—तो कहते हैं कि—

आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमय है, सुख दाता है, और पुण्य-पाप विकार भाव तो मलिन, क्षणिक एवं दु:खदायी है—ऐसी स्वोन्मुख दृष्टि होने पर दोनों का भेद जाना वही विकार में एकता बुद्धिरूपी अनंत संसार की गाँठ गल जाती है। त्रैकालिक स्वभाव और क्षणिक विभाव में किंचित् भी मेल नहीं है—ऐसा जाना, वही ही अंतरंग दर्शनमोह की गाँठ छूट जाती है और अज्ञान से होनेवाला आस्रवभाव पृथक् हो जाता है—ऐसा नियम है। प्रथम श्रद्धा में से सर्वथा और फिर क्रमश: चारित्र में से अंशत: विकार दूर होने लगता है।

पुण्य-पाप है, वह तो चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध जाति के हैं, वे सचमुच आत्मा की पर्याय नहीं हैं। जिसप्रकार कोई पुत्र अपना घर लूटकर वेश्या का घर भरता हो, तो पिता उसे अपना पुत्र नहीं मानता, उसीप्रकार पुण्य-पाप के संबंध में समझना चाहिये।

शुभाशुभभाव जड़ हैं—अंध हैं; राग, राग को नहीं जानता, किंतु वह अन्य द्वारा जाना जाता है, इसलिये विरुद्ध स्वभाववाला है, और भगवान आत्मा को सदैव विज्ञानघनपना होने के कारण तथा स्वयं ही चेतक-ज्ञाता होने से वह चैतन्यपना से सदा एकमेक स्वभाववाला है।—ऐसी दृष्टि होने पर अनंतकालीन कर्म आने से रुक जाते हैं। अपने को स्व-रूप और रागादि पर को पर-रूप जाने, ऐसा भावभासनरूप से होते ही मिथ्यात्व और उसके आवरणरूप कर्म निवृत्त हो जाते हैं।

अज्ञानी को पुण्य-पाप का प्रेम दु:खरूप भासित नहीं होता, इसलिये वहाँ से विमुख होकर वह सुखदाता अंतरस्वभाव की ओर नहीं देखता। ध्रुवस्वभाव में सुख है; उससे विरुद्धदशा वह आस्रव है—ऐसी प्रतीति न हो, तब तक सुखस्वभावी आत्मा का प्रेम नहीं होता।

आत्मा को विज्ञानघन कहा है। जिसप्रकार शीतकाल में जमे हुए शुद्ध घृत में उंगली प्रविष्ट नहीं हो पाती; उसीप्रकार इस त्रिकाली विज्ञानघन आत्मा में शुभाशुभ विकल्पों का प्रवेश नहीं हो पाता। ऐसे स्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा होते ही संसार (आस्रव-बंधन) टूटने लगता है।

चैतन्यवस्तु के निवास का स्वक्षेत्र,

उसमें—

केवलज्ञान बीजरूपी शिलान्यास

वीर संवत् २४८७, फाल्गुन शुक्ला दूज को राजकोट में श्री दिगम्बर जैन मंदिर के निकट स्वाध्याय-मंडप की शिलारोपण विधि के अवसर पर पूज्य गुरुदेव का मांगलिक प्रवचन

सर्वज्ञ परमात्मा ने वस्तु किसे कहा है, वह बात गोम्मटसार शास्त्र में कही गई है कि—जिसमें गुण-पर्याय का वास हो तथा जो गुण-पर्याय में बसे, उसे वस्तु कहते हैं। आत्मा नित्य अपने असंख प्रदेशी स्वक्षेत्र में, ज्ञानादि अनंत गुणों में तथा उसकी दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अवस्थाओं में निवास कर रहा है, किंतु शरीर आदि पर वस्तुओं में उसका निवास स्थान नहीं है।

आत्मा शक्तिरूप से सिद्ध परमात्मा समान है, किंतु बाह्य दृष्टि के कारण रागादि पुण्य-पाप की मलिनता—जो आत्मा के लिये अवस्तु है-उसमें वास करता है; किंतु वास्तव में उसमें आत्मा के गुण-पर्यायों का वास नहीं है।

अंतर चिदानंदस्वभाव में अंतर्मुख होकर जो निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय प्रगट करे, उस आत्मा का अपने गुण-पर्याय में निवास कहलाता है और वही सच्चा वास्तु प्रवेश है; उसे सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान का शिलान्यास कहा है।

जिसने ध्रुव चिदानंदस्वभाव की श्रद्धा करके, सम्यग्दर्शनरूपी नींव डाली, उसने अपने आत्मा में केवलज्ञान का अचल शिलान्यास किया है; उसने असंख्य प्रदेशी चैतन्यभूमि में वास किया है।

असंख्यप्रदेशी चिदानंदस्वरूप जो चैतन्यशिला है, उसके आधार से केवलज्ञान और परमानंद प्रगट होता है। पूर्ण ज्ञान एवं आनन्द प्रगट करने की शक्ति मुझमें ही है;—इसप्रकार जिसने अपने आत्मा में सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रगट किये, उसने स्वक्षेत्र चैतन्यधाम में केवलज्ञान शिलान्यास किया है। सम्यग्दर्शनरूपी शिला द्वारा आत्मा में केवलज्ञान की नींव डाली, वह अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करेगा—यह मंगल है।

नया प्रकाशन

गुजराती टू हिन्दी शब्द कोष—

जिसमें पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों समझने में सुगम हो जाये ऐसा संक्षेप में सुन्दर शब्द संग्रह है। मूल्य ०-२५। हमारे साहित्य प्रकाशन विभाग के सूचीपत्र जिसमें पुस्तकों का स्वरूप ख्याल में आ जाये इस ढंग से परिचय है।

दशलक्षण धर्म (प्रवचन)

जिसमें उत्तम क्षमादि धर्मों के ऊपर आध्यात्मिक सुंदर शैली से विवेचन है। निश्चय-व्यवहार धर्म कब और कैसे होता है ? यथार्थ भावभासनपूर्वक आत्मिक शांति, स्वतंत्रता, यथार्थता का स्वाद लेने के लिये इसे अवश्य पढ़िये। पृष्ठ ९५, मूल्य -०.५३।

समयसार प्रवचन भाग १

पृष्ठ ४८८, मूल्य ४.७५

समयसारजी शास्त्र की गाथा १ से १२ ऊपर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का अपूर्व प्रवचन है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा उत्तम ढंग से की गई है। यह अच्छी तरह संशोधित दूसरी आवृत्ति है। थोक लेने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जावेगा। समयसारजी ग्रंथाधिराज है उसमें प्रवेश पाने के लिये समयसारजी के ऊपर किये गये प्रवचन भाग १-२-३ अवश्य पढ़िये।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसारजी मूलग्रन्थ संस्कृत टीका सहित छप रहा है—

सर्वोत्तम सुंदर पद्धति से छपते हैं और अध्यात्म विद्या का सर्वोत्तम और सुगम ग्रंथाधिराज सभी तत्त्व जिज्ञासुओं के हाथ में आवे और लाभ लें, ऐसी भावना से सस्ते में ही दिये जायेंगे, प्रकाशित होने में शायद तीन मास लग जायेंगे। बाद प्रवचनसारजी शास्त्र छपेंगे।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।